श्रमण-जीवन की महत्ता

श्री सम्पतराज चौधरी

एक साधक गृहस्थ से बढ़कर होता है श्रमण का जीवन। वह आत्म-कल्याण के साथ परकल्याण में भी तत्पर होता है। आत्म-विकास के लिए तप अथवा श्रम करने के कारण उसे श्रमण कहा जाता है। श्री चौधरी साहब ने अपने आलेख में श्रमण के तपस्वी अर्थ का विशेष महत्त्व स्थापित किया है तथा सच्चे श्रमण के साधना-शील जीवन का महत्त्व स्पष्ट किया है। **-सम्पादक**

साधना का मार्ग एवं फल

आचार्य कुन्दकुन्द के समकालीन आचार्य वट्टकेर ने कहा है- 'मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणं समक्खादं' (मूलाचार, 202) अर्थात् महावीर भगवान् ने अपने समस्त प्रवचनों में दो बातें कही हैं- मार्ग एवं मार्ग का फल। मार्ग का अर्थ है- साधना पथ और मार्गफल का अर्थ है- साध्य। मानव को साधना पथ पर चलकर जिस ध्येय को प्राप्त करना होता है वह है- आत्मस्वरूप की प्राप्ति। यही उसका अन्तिम ध्येय है, क्योंकि आत्मस्वरूप की प्राप्ति के पश्चात् पाने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता है।

साधना मानव जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। साधना दो प्रकार की होती है। एक लौकिक साधना होती है और दूसरी लोकोत्तर साधना। जिस मार्ग के बारे में आचार्य ने कहा है, वह लोकोत्तर साधना है। इसे अध्यात्म-साधना भी कहते हैं। अध्यात्म-साधना भी दो प्रकार की होती है- एक देशविरति साधना और दूसरी सर्वविरति साधना। प्रथम प्रकार की साधना में व्यक्ति मर्यादाशील जीवन यापन करता हुआ भी पूर्ण हिंसादि पापों का त्याग नहीं कर सकता, फिर भी वह अर्थ और काम का सेवन करते हुए भी धर्म को ही जीवन में प्रमुख स्थान देता है। जो अर्थ और काम धर्म से च्युत करते हैं, वहाँ वह अपनी कामनाओं का संवरण कर लेता है। साधना के दूसरे मार्ग सर्वविरति में व्यक्ति गृहत्यागी बनकर मन, वचन और काय से सम्पूर्ण हिंसा, स्तेय, अदत्तग्रहण, कुशील और परिग्रह आदि पापों का त्याग कर देता है, उन पापों को अन्य से नहीं करवाता है एवं ऐसे पाप करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करता है। ऐसे गृहत्यागी साधक को जैनागमों में 'श्रमण' कहा है। श्रमण की साधना पूर्ण साधना का मार्ग है, जबकि गृहस्थ की साधना देशविरति होती है जो सर्व-विरति साधना की ओर अग्रसर होने की भूमिका है।

आस्तिक दर्शनों ने चेतन तत्त्व अर्थात् आत्मा को शरीर एवं अन्य दृश्यमान जगत् के पदार्थों से भिन्न और स्वतन्त्र माना है। शरीर में रहता हुआ चेतन तत्त्व अनन्त शक्ति सम्पन्न होकर भी कर्मों के संयोग से अपने स्वरूप को विस्मृत कर चुका है, इसीलिये यह अनेक भवों में अपने कर्मानुसार अलग-अलग पर्यायों में भ्रमण

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

करता हुआ निरन्तर आकुलता-व्याकुलता को सहन करता रहता है। उसे कभी स्थायी आनन्द नहीं मिल रहा है। स्थायी आनन्द के लिये भगवान् महावीर ने जो मार्ग बताया है, वह है-

नाणेण जाणइ भावे दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई ।।-उत्तराध्ययन सूत्र, 28.35

अर्थात् ज्ञान के द्वारा जीवाजीवादि भावों को जानना, हेय और उपादेय को पहचानना, दर्शन से तत्त्व का श्रद्धान करना, चारित्र से आने वाले रागादि विकार युक्त कर्म-दलों को रोकना एवं तपस्या से पूर्व संचित कर्मों का क्षय करना, यही संक्षेप में मुक्ति-मार्ग या आत्मशुद्धि की साधना है। गृहस्थ और गृहत्यागी अणगार दोनों इसकी साधना कर सकते हैं। परन्तु गृहस्थ और अणगार की साधना में बहुत बड़ा अन्तर होता है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। श्रमण अपनी साधना की विशिष्टताओं के कारण साधारण व्यक्तियों से बहुत ऊपर उठ जाता है। इसलिये पहले हम श्रमण के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

तप का श्रम करने वाला श्रमण

हमारे देश में आध्यात्मिक उन्नयन हेतु प्रारम्भ से ही दो धाराएँ चल रही हैं- एक श्रमणधारा और दूसरी वैदिक धारा। जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन में दीक्षित अणगार को 'श्रमण' कहा गया है। हमारी चर्चा का विषय उस श्रमणधारा से है जिसमें आत्मोन्नयन के लिये संयम और तप रूपी श्रम किया जाता है एवं जिसका सूत्रपात इस अवसर्पिणी काल में भगवान् ऋषभदेव ने किया था और जो आज तक भी भगवान् महावीर के शासनकाल में अविच्छिन्न रूप से चल रही है। प्राचीन ग्रन्थों में भगवान् महावीर को जैन मुनि नहीं, किन्तु स्थान-स्थान पर 'निग्गंथे नायपुत्ते' अथवा 'समणे भगवं महावीरे' के विशेषणों से पुकारा गया है। प्राकृत में आए 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं- श्रमण, शमन और समन। जो मोक्ष के लिये श्रम करता है वह 'श्रमण'। जो कषायों का उपशमन करता है , उसे 'शमन' कहते हैं। समन का अर्थ है जो प्राणिमात्र पर समभाव रखता है। 'श्रमण' शब्द श्रम धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है आत्म-विकास के लिये श्रम करना। आचार्य रविषेण ने कहा है-

परित्यज्य नृपो राज्यं श्रमणो जायते महान्।
तपसा प्राप्य संबधं तपो हि श्रम उच्यते ।।-पद्मचरितम् ,6.212

अर्थात् जो राजा अपने राज्य को छोड़कर तप के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं वे श्रमण कहलाते हैं, क्योंकि श्रम करे वही श्रमण और तपश्चरण ही श्रम कहा जाता है। महान् आचार्यों ने श्रमण शब्द को कई तरह से परिभाषित किया है, लेकिन उन सबका केन्द्र बिन्दु तप और संयम ही है। अनुयोगद्वार में कहा है-

तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ ण होइ पावमणे।
सयणे य जणे य समो, समो य माणाऽवमाणेसु

-अनुयोगद्वार 132/सूत्रांक 599

अर्थात् जो मन से सुमन (निर्मल मन वाला) है, संकल्प से कभी पापोन्मुख नहीं होता है, स्वजन तथा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पर-जन में, मान एवं अपमान में सदा सम रहता है, वह श्रमण है। श्रमणत्व का सार है- उपशम (उवसम सारं खु सामण्णे - वृहत्कल्प भाष्य 1.135) तप से उपशम भाव की प्राप्ति होती है और विकारों के उपशम से समत्व की प्राप्ति होती है। इसीलिये भगवान् ने कहा है- 'समयाए समणो होइ' (उत्तराध्ययन सूत्र 25.32) अर्थात् समता से श्रमण होता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र (2.5.162) में भी कहा है- 'समे य जे सव्वपाणभूएसु से हु समणो' अर्थात् जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, वस्तुतः वही श्रमण है।

सूत्रकृतांग में श्रमण का स्वरूप बताते हुए कहा है-

> ''एत्थ वि समणे अणिस्सिते अणिदाणे आदाणं च अतिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोभं च पेज्जं च दोसं च इच्चेवं जतो आदाणातो अप्पणो पदोसहेतुं ततो तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते विरते पाणाइवायाओ दंते दविए वोसट्ठकाए समणे त्ति वच्चे।''
>
> **-सूत्रकृतांग 1.16.635**

अर्थात् जो साधक अनिश्रित (शरीर आदि किसी भी पदार्थ में आसक्त या उस पर आश्रित नहीं है), अनिदान (अपने तप-संयम के फल के रूप में किसी भी प्रकार के इह-लौकिक सुख भोगाकांक्षा से रहित) है, तथा कर्मबन्ध के कारणभूत प्राणातिपात, मृषावाद, मैथुन और परिग्रह (उपलक्षण से अदत्तादान भी) से रहित है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष नहीं करता; इस प्रकार जिन-जिन कर्मबन्ध के आदानों-कारणों से इहलोक-परलोक में आत्मा की हानि होती है तथा जो-जो आत्मा के लिये द्वेष के कारण हों, उन-उन कर्मबन्ध के कारण से पहले से ही निवृत है एवं जो दान्त, भव्य (द्रव्य) तथा शरीर के प्रति ममत्व से रहित है, उसे श्रमण कहना चाहिए। इन अर्थों के प्रकाश में जब हम 'श्रमण' को कसते हैं तो श्रमण का पहला लक्षण अनिश्रित बताया है, क्योंकि वह सांसारिक पदार्थ या शरीर पर आश्रित नहीं है अथवा आसक्त नहीं है- वह पर-पदार्थ पर आश्रित होकर नहीं रहता, बल्कि तप-संयम से स्वश्रम पर ही आगे बढ़ता है। श्रमण जो भी श्रम करता है, वह कर्म-क्षय के लिये ही करता है। निदान करने से कर्मक्षय नहीं होता है, इसीलिये उसे अनिदान कहा है। प्राणातिपात आदि जिन-जिन से कर्मबन्ध होता है, उनका वह शमन करता है, उनसे दूर रहता है। क्रोधादि कषायों एवं राग-द्वेष का शमन करता है। राग-द्वेष मोहादि कारणों से दूर रहकर समत्व में स्थिर रहता है।

सूत्रकतांग में ही श्रमणों के बत्तीस योग-संग्रह अर्थात् पालन करने योग्य कृत्य बताये गये हैं, जिसमें दोषों की समर्थ आलोचना से लेकर मरण समय में संलेखना से आराधक बनने का निरूपण है। स्थानांग सूत्र (3/4/सूत्रांक 496) में कहा है- 'तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महपज्जवसाणे भवति' अर्थात् तीन कारणों से श्रमण की साधना का फल महानिर्जरा और उसके संसार का अंत बताया है। ये तीन कारण श्रमण के तीन मनोरथ या भावनाएँ होती हैं- 1. कब मैं अल्प या बहुश्रुत का अध्ययन करूँगा, 2. कब मैं एकल विहारी प्रतिमा को स्वीकार करूँगा एवं 3. कब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर भत्त-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पान का परित्याग कर पादपोपगमन संथारा स्वीकार कर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विचरूँगा।

आगम शास्त्रों में जो-जो विशिष्ट गुण अलग से माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ के बताये हुए हैं, वे कथंचित् एकार्थक हैं, परस्पर अविनाभावी हैं। इस तरह श्रमण जीवन की महत्ता इसके अर्थ में ही निहित है।

तप में सम्पूर्ण मोक्ष मार्ग समाहित

स्थानांग सूत्र (10/16) में श्रमण धर्म इस प्रकार का कहा गया है- क्षमा, अलोभ, सरलता, मृदुता, लघुता, सत्य, संयम, तप, त्याग एवं ब्रह्मचर्यवास। इसी आगमशास्त्र (2/1/सूत्रांक 40) में कहा है- दो कारणों से संसार अटवी को पार पाया जा सकता है और वे दो मार्ग हैं-'विज्जाए चेव, चरणेण चेव' अर्थात् विद्या और चारित्र। विद्या का अर्थ ज्ञान और चारित्र का अर्थ क्रिया से है। कहने का तात्पर्य है कि ज्ञान और क्रिया दो मोक्ष के मार्ग हैं। शास्त्रकार आगे कहते हैं- ''आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं' (सूत्रकृतांग 12/11) अर्थात् विद्या और चरण अर्थात् ज्ञान-क्रिया के समन्वय से ही मुक्ति हो सकती है। उपाध्याय यशोविजय जी ने ज्ञानसार (10/73) में कहा है कि साधु ज्ञान रूपी अमृत का पानकर और क्रिया रूपी कल्पवृक्ष के फल खाकर, समता रूपी तांबुल चखकर परम तृप्ति का अनुभव करता है। ज्ञान और क्रिया सम्यक् होनी चाहिए इसीलिये आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र के प्रारम्भ में कहा है- 'सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष-मार्गः' सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष मार्ग हैं, ये सब अलग-अलग नहीं वरन् मिलकर ही मार्ग है। आचार्य के अनुसार जब तक सम्यक् दर्शन नहीं होता है, तब तक सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता और जब तक सम्यक् ज्ञान नहीं होता है, तब तक सम्यक् चारित्र नहीं हो सकता। मोक्ष-साधना के मार्ग में ये तीनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के मोक्ष मार्ग अध्ययन में मोक्ष के चार मार्ग बताये हैं-

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहि ।।-उत्तराध्ययन सूत्र 28.2

अर्थात् सत्य के सम्यक्द्रष्टा जिनवरों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप- ये चार मोक्ष के मार्ग बताये हैं। यहाँ प्रभु ने चौथे मार्ग के रूप में तप को बताया है। वस्तुतः ये चारों ही एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, परन्तु प्रभु ने जो तप का मार्ग बताया है उसमें सभी का समन्वय हो जाता है। यही कारण है कि श्रम की परिभाषा में इसका अर्थ तप बताया गया है। 'सर्वेपदा हस्तिपदे निमग्नाः'-हाथी के पैर में सब के पैर समा जाते हैं। सागर के गर्भ में सभी नदियां समा जाती हैं, उसी तरह तप के आचरण में मोक्ष के सभी मार्ग समाहित हो जाते हैं। तप का जैसा व्यापक वर्णन जैन आगमों में मिलता है वैसा अन्यत्र किसी भी दर्शन में नहीं देखा गया। तप का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसमें अनशन, स्वाध्याय, सेवा, भक्ति, प्रायश्चित्त, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि जीवन की सभी क्रियाएँ आ गई हैं। इसीलिये जैन दर्शन में श्रमण शब्द तपस्वी का ही वाचक बन गया है-' श्राम्यतीति श्रमणा तपस्यन्तीत्यर्थः (दशवैकालिक वृत्ति 1/13 आचार्य हरिभद्र)।

जैन धर्म का इतिहास पढ़ेंगे तो पता चलेगा कि जितने भी महापुरुष हुए हैं वे तपस्या के परिणाम से हुए हैं। आदिपुरुष भगवान् ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष तक कठोर तपस्या की एवं केवलज्ञान प्राप्त किया। अन्तिम

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर भगवान् महावीर ने भी बारह वर्ष और साढ़े छः माह की उग्र तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया। इसीलिये बौद्ध ग्रन्थों में भी भगवान् महावीर को 'दीघतपस्सी निगंठो' कहा है। भगवान् महावीर ने भी गौतम गणधर की तपः साधना का वर्णन करते हुए कहा है- उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे (भगवती सूत्र 1.1.3)- गौतम बड़े उग्र तपस्वी, दीप्ततपस्वी और एक महान् तपस्वी थे। सभी तीर्थंकर संसार त्याग कर दीक्षा लेते हैं और केवलज्ञान की प्राप्ति तक तप-साधना में रत रहते हैं। उनकी हर सिद्धि के मूल में तप ही रहता है। आज भी किसी साधना के अनुष्ठान में तप की ही भूमिका रहती है। स्वयं भगवान् महावीर ने कहा- 'तवेणं वोदाणं जणयइ' (उत्तराध्ययन सूत्र 29.26)- तप से व्यवदान होता है अर्थात् तप से आत्मा कर्मों को दूर करता है। भगवान् ने आगे बताया है- 'भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ' (उत्तराध्ययन सूत्र 30.6)- करोड़ों भवों के संचित कर्म तप से क्षीण हो जाते हैं, यही तप का फल है।

चारित्र तो तप है ही, परन्तु ज्ञान भी तप है। ज्ञान प्राप्ति तभी होती है जब आप विनय युक्त होंगे, सेवा करेंगे तब ही गुरु से ज्ञान मिलेगा। स्वाध्याय भी तप का ही अंग है। तप को आगम-शास्त्रों में विस्तृत अर्थ देकर इसके दो भेद बताये हैं- बाह्यतप और आभ्यन्तर तप। जिस तप की साधना शरीर से ज्यादा सम्बन्ध रखती हो वह बाह्य तप जैसे- उपवास, रस परित्याग, कायक्लेश, अभिग्रह, भिक्षावृत्ति आदि। जिस तप का सम्बन्ध मन से अधिक रहता है वह आभ्यन्तर तप जैसे-प्रायश्चित्त, ध्यान, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग आदि। लेकिन इन दोंनों में मौलिक भेद नहीं है, ये एक दूसरे के पूरक हैं। हाँ, कोई साधक अनशन नहीं कर सकता तो वह तप के दूसरे प्रकारों की साधना कर सकता है। दशवैकालिक (8/34) में कहा गया है कि अपना शरीर, बल, मन की दृढ़ता, श्रद्धा, आरोग्य तथा क्षेत्र काल आदि का पूर्ण विचार करके ही तपश्चर्या में लगना चाहिए। ऐसा इसलिये कहा है कि तप करने में यदि संक्लेश पैदा हो तो समाधि नहीं रहेगी। कहने का तात्पर्य यही है कि आत्मशुद्धि का कौनसा साधन है जो तप में नहीं आता। संक्षेप में कहें तो त्याग वृत्ति ही तप है- दोषों का त्यागना, ममत्व बुद्धि को त्यागना, परिग्रह को त्यागना, भोगों को त्यागना, लोभ को त्यागना, क्रोध को त्यागना, मान को त्यागना, माया को त्यागना, भय को त्यागना और अन्त में सभी पाप और पुण्य को भी त्यागना। यहाँ तक कहा गया है कि श्रमण मोक्ष की भी कामना न करता हुआ अपने स्वरूप में रमण करे।

यहाँ पर यह बताना आवश्यक है कि आचार्य, उपाध्याय एवं साधु ये तीनों ही 'श्रमण' शब्द के वाच्य हैं- 'श्रमणशब्द- वाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूंश्च' (प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति 2/4/40)। आचार्य शीलांक ने सूत्रकृतांग की टीका में कहा है- 'श्राम्यति तपसा खिद्यति इति कृत्वा श्रमणो वाच्यः'- जो भी श्रम करता है, तप करता है, तप से शरीर को खिन्न करता है, उसे श्रमण कहा जाता है।

श्रमण जीवन का सामाजिक महत्त्व

भगवान् ने जो साधना का मार्ग बताया है, क्या वह श्रमण जीवन में ही सम्भव है? ऐसा नहीं है, गृहस्थ में रहकर भी अनेक आत्माओं ने मुक्ति प्राप्त की है। सिद्धों के पन्द्रह प्रकारों में एक गृहस्थलिंग सिद्ध भी है, यानी गृहस्थ के वेष में भाव संयम प्राप्त करके सिद्ध होने वाले। अगर ऐसा है तो भगवान् ने संयम और गृहत्याग का

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

रास्ता क्यों चुना? **'समिच्च लोए खेयन्ने पवेइए'** - समस्त लोक की पीड़ा को जानकर और जगत् को दुःख एवं पीड़ा से मुक्त करने के लिये महावीर ने संन्यास धारण किया। वे आत्म-कल्याण के साथ-साथ अपने वैयक्तिक जीवन से ऐसा आदर्श प्रतिष्ठित करना चाहते थे जिसे सम्मुख रखकर व्यक्ति अपने कल्याण और मानवता के कल्याण की दिशा में अग्रसर हो सके। प्रश्न उठता है कि लोक कल्याण के लिये श्रमणत्व की आवश्यकता क्यों है? सामान्यतया जब तक व्यक्ति अपने वैयक्तिक स्वार्थों से परिवार के साथ जुड़ा रहता है तब तक वह सम्यक् रूप से लोक कल्याण का सम्पादन नहीं कर सकता है। लोक-मंगल के लिये निजी सुखाकांक्षाओं से, स्वार्थों से, मैं और मेरेपन के भावों से ऊपर उठना आवश्यक है। ममत्व और मेरे मन के घेरे को समाप्त करना अपेक्षित है। परिग्रह में भोगों की ओर आकर्षित होकर उसके प्रवाह में बहने की सम्भावना रहती है। जितना परिग्रह उतना ही अधिक दुःख, यह नियम है। जब पदार्थों में आसक्ति रहती है तो आत्मत्तत्व से व्यक्ति दूर ही रहता है। श्रमण-जीवन में आत्म-कल्याण तो होता ही है, साथ-साथ में लोक कल्याण भी हो जाता है। ऐसे व्यक्ति विरले होते हैं जो ममत्व और भोग-लिप्सा पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। उनके लिये भोग रोग होता है। दुनियाँ के सुख उनके लिये भय है, क्योंकि वे अवनति के गर्त में धकेलते हैं। इसीलिये ऐसे व्यक्ति अणगार बन जाते हैं, उनकी अन्तर्दृष्टि जागृत हो जाती है और वे त्यागवृत्ति अपनाकर स्व-पर कल्याण के उस मार्ग पर निकल पड़ते हैं जिस पर दृढ़ आत्मशक्ति सम्पन्न पुरुष ही चल सकता है।

संतों की एक विशेषता है- निर्भयता। भय हमेशा पाप और पतन का कारण होता है। भर्तृहरि ने कहा है- भोगों में रोग का भय है, ऊँचे कुल में पतन का भय है, धन में छीने जाने का भय है, मान में दीनता का भय है, बल में शत्रु का भय है, रूप में बुढ़ापे का भय है, शास्त्र में शुष्कवाद का भय है, गुण में निन्दा का भय है एवं शरीर में काल का भय है। संसार के सभी व्यवहार और गुण किसी न किसी भय से पीड़ित हैं। केवल एक वैराग्य ही है जिसमें किसी प्रकार का भय नहीं है। साधु बाह्य और अन्तरंग परिग्रह से निवृत्त होता है, अतः उसे न संसार से भय है और न ही मृत्यु से। इसीलिये वह निर्भय होकर आत्म एवं परकल्याण में बिना भय के लगा रहता है।

श्रमण अपनी इन्हीं विशिष्टताओं के कारण मानव एवं समस्त प्राणिजगत् के दुःख निवारण में संलग्न होता है। वह आत्म-गुणों की उच्च अवस्था को प्राप्त हुई एक आदर्श मूर्ति है एवं दूसरों के लिये प्रेरणास्रोत है। वह अज्ञान में जीने वालों के लिये ज्ञान का प्रकाश स्तम्भ है। उसकी साधना आत्मा से परमात्मा बनने की साधना है। दुःखी मानव के लिये शाश्वत सुख-प्राप्ति का रास्ता एक निःस्वार्थ, निर्लोभी, निर्मोही, परोपकारी संत ही बता सकता है। संतों का समागम न केवल ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होता है, बल्कि मन की मलिनता को भी दूर करता है। तीर्थों का फल तो समय आने पर मिल भी सकता है, परन्तु संतसमागम का फल तो तत्काल मिलता है। जैसे वृक्ष प्रचंड धूप सहन करके भी दूसरों को छाया देते हैं वैसे ही साधु दुःख सहन करके भी शरण में आये लोगों को शांति प्रदान करते हैं। संतों की जीवन-गाथा भी इसीलिये पढ़ी जाती है कि इससे मन की सोई हुई शक्ति जागृत हो जाए। ''सत्संगति जड़ता नष्ट करती है, वाणी को सत्य से सींचती है, चित्त को प्रसन्नता देती है और संसार में यश फैलाती है। सत्संगति मनुष्य के लिये क्या नहीं करती?'' (भर्तृहरि-नीतिशतक)

-14-वरदान अपार्टमेन्ट, 64-इन्द्रप्रस्थ एक्सटेन्शन, दिल्ली-110092

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org